पेरिस–सिएटल उड़ान
फरवरी ०४, २००६

सन्देश संख्या १६०

अद्वैत ध्यान–प्रक्रिया ही गुरु–प्रक्रिया है

ध्याता द्वारा किया जाने वाला सचेतन ध्यान और कुछ नहीं, बल्कि दुर्गन्धयुक्त एवं पाखण्डपूर्ण अहंकार ही है । अन्तर्जगत के भ्रामक द्वैत की जब झलक मिलती है तब कहीं 'विचारक' की गलाघोंटू पकड़ से विचार मुक्त हो पाता है । और यही, ध्यान–प्रक्रिया का प्रारम्भ है । यही गुरु–प्रक्रिया भी है । आध्यात्मिक मण्डी में स्वयं को 'गुरु' रूप में प्रस्तुत करने वाले पाखंडियों, ढोंगियों एवं चालबाजों से इस ध्यान–प्रक्रिया या गुरू–प्रक्रिया का कुछ भी लेना–देना नहीं है ।

तुम्हारे अर्थात् मन की सभी खोजें ज्ञात–क्षेत्र में होती हैं । जब इस तरह की सभी खोजों एवं चाहने–पाने पर पूर्ण विराम लग जाता है तब ध्यान का प्रारम्भ होता है । इसमें शाब्दिक अभिव्यक्ति के बिना ही सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, समझदारी की दिव्य ऊर्जा का उदय होता है और तभी ईश्वर की खोज के नाम पर किए जा रहे घिनौने खेलों की समाप्ति होती है । ज्ञात और गुप्त, ''मैं'' के प्रत्येक चाल को समझना और उससे मुक्त होकर नितांत एकाकी होना ही ध्यान है । भगवान के लिए, अपने चारों तरफ विश्वासों, उधारी सूचनाओं एवं धर्मान्धता की ऊँची और मजबूत दीवार खड़ी मत करो । वह दीवार तुम्हारे मानसिक कैदखाने को मजबूत करेगी और उसे तरह–तरह से सजा–सँवार कर आकषक और लुभावनी बनाती रहेगी । तुम असीम को अपने सीमित कैदखाने में कैसे बुला सकते हो ! तुम अपने विचारों के साथ या तो संघर्ष करते हो या उनका स्वागत करते हो, दोनों ही स्थितियों में तुम अपने मानसिक कारागार में ही रहते हो । यह सब देख पाने की प्रज्ञा ही ध्यान है । ध्यान समझदारी की ऊर्जा लाता है जिससे मानसिक कारागार की दीवारें ध्वस्त हो जाती हैं ।

यद्यपि मन समय और अनुभव से उत्पन्न है, फिर भी यह किसी तरह हवाई यात्रा के दौरान उस ऊँचाई पर पूर्णतया स्थिर है और उसके प्रति अत्यन्त संवेदनशील है जो यहाँ इस हवाई जहाज और इसके बाहर के सम्पूर्ण आकाश को भर रहा है किन्तु उसका माप किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। किन्तु इस शरीर के साथ–साथ हवाई–यात्रा करने वाले अन्य विभेदकारी 'मैं' असीम चैतन्य की उपस्थिति से पूर्णरूपेण अनजान थे। वे लोग बातचीत करने, अश्लील फिल्म देखने, कार्ड खेलने, उत्तेजक समाचार पढ़ने आदि में खोये हुए थे । मन जीवन से बिल्कुल अलग कर देता है, वियुक्त कर देता है । इस अलगाव को, इस वियोग को समाप्त करना ही जागरण है, योग को उपलब्ध होना है ।

तं विद्याद्दुःखसंयोग वियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।
(भगवद्गीता ६/२३)

यहाँ एक क्रियावान भाई द्वारा क्रियावान बहन को लिखा गया पत्र प्रस्तुत है –

प्रिय बहन,

गुरूजी २४ जनवरी २००६ पेरिस जाने वाले थे । वहाँ जाने के पहले वे यहाँ दिल्ली में रूके थे । उस समय एक अद्भुत घटना घटित हुई थी, जिसे तुमसे साझा करने के लिए तुम्हें यह मेल भेज रहा हूँ ।

गुरूजी वाराणसी से २२ जनवरी को दिल्ली लगभग ३:३० बजे अपराह्न में पहुँचे थे । यहाँ गुरूजी की एक शिष्या थी जो कैन्सर के अन्तिम चरण से गुजर रही थी तथा गुरूजी से मिलना चाहती थी । अतः जब गुरूजी दिल्ली पहुँचे तब उन्हें हवाई अड्डे से सीधे उस शिष्या के पास ले जाया गया । यह एक लम्बी और कठिन यात्रा थी । गुरूजी उसका हाथ पकड़कर बहुत देर तक बैठे रहे । उसे भयानक कष्ट था और वह चाहती थी कि मृत्यु आ जाय ताकि शरीर को कष्ट से मुक्ति मिल जाये ।

बाद में, गुरुजी पेरिस जाने से पहले रात्रि–विश्राम के लिए एक दूसरे शिष्य के घर रुके थे । उस रात्रि उनके पेट में भयंकर पीड़ा हुई । उनका पेट पत्थर की तरह कड़ा हो गया था और उनका शरीर बहुत कष्ट में था । कैंसर पीड़िता शिष्या की तरह ही, गुरूजी भी सोच रहे थे कि किसी तरह पीड़ा समाप्त होनी चाहिए, चाहे उसके लिए मृत्यु क्यों न हो जाय । २३ जनवरी की सुबह उन्हें कुछ आराम मिला था और वे दिन भर सोते रहे । उस दिन शाम को मैं उनसे मिलने गया । वे बैठे हुए थे । उस समय उन्हें कोई कष्ट नहीं था तथा वे और उनके एक शिष्य, जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा के उच्च अधिकारी हैं, अंग्रेजी संदेशों का हिन्दी में अनुवाद कर रहे थे।

मैं उनके पास वहीं बैठ गया तथा किए गए अनुवाद को सुन रहा था । अचानक उन्होंने मुझसे पूछा कि कैन्सर पीड़िता शिष्या से कैसे सम्पर्क हो सकता है? मैंने पीड़िता शिष्या के घर फोन किया तथा उनकी बहन से बात की। फिर उन्होंने उनसे पूछा – ''अब दीपा कैसी है? क्या उसके कष्ट में कुछ कमी आई है ?'' फिर गुरुजी ने हमलोगों से कहा – ''कल मैं उससे मिलने गया था तथा बहुत देर तक उसका हाथ पकड़कर बैठा था । वह बहुत कष्ट में थी और मृत्यु चाहती थी । उसके बाद कल रात, मेरे पेट में

भयंकर दर्द हुआ । दर्द इतना ज्यादा था कि ऐसा लगने लगा था कि दर्द से मुक्ति के लिए मृत्यु भी हो जाय तो अच्छा है । हमलोगों के यहाँ यह विश्वास पद्धति है कि सद्गुरु अपने शिष्यों के दुःख–दर्द को अपने शरीर पर ले लेते हैं तथा उनकी समस्याओं एवं परेशानियों का समाधान कर देते हैं। यह शरीर विश्वास–पद्धति को तो नहीं मानता किन्तु जब कल यह सब हुआ तब भीतर एक प्रश्न अवश्य उठ खड़ा हुआ था और मैं उसको जाँचना चाहता था। इसीलिए मैंने उसकी बहन से पूछा है कि दीपा पहले से कैसी है । किन्तु वह अब भी कष्ट में हैं । इस तरह , गहन सांस्कृतिक निवेश के बावजूद विश्वास से मुक्ति मिल गई ।

[३१ जनवरी २००६ को दीपा ने गहन शांति के साथ अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर दिया।

उस समय जिस (सन्देश संख्या ६७) का अनुवाद हो रहा था उसका शीर्षक था – ''मुक्ति क्या है? निर्वाण क्या है? स्वतन्त्रता क्या है?'' और उसकी १८वीं अनुभूति पर चर्चा हो रही थी जो निम्नवत थी]

(१८) स्वतन्त्रता अनाम और एकाकी होती है । यह परोक्ष प्रयोजनों का त्यागकर किसी भी विषय के बारे में अच्छी तरह परीक्षण करने का साहस है । चित्त के समस्त विकारों की समाप्ति ही मुक्ति है ।

बहन, यही सद्गुरू हैं । किसी भी विषय के बारे में अच्छी तरह परीक्षण करने तथा जाँचने–परखने का साहस, गुरुजी ने उस दिन मुझे दिखाया और सबसे बड़ी कृपा यह हुई कि वह इस शरीर द्वारा देखा गया और स्वाध्याय भी घटित हुआ ।

कई शिष्य गुरू के पास केवल इसी इच्छा से आते हैं कि वे अपनी समस्याओं के बोझ को गुरू के शरीर पर लाद सकें, क्योंकि यह उनका विश्वास है कि गुरु शिष्य की समस्याओं के बोझ को अपने ऊपर लेकर शिष्य को समस्या–मुक्त कर सकता है ? फिर तो समझदारी कहाँ है ? सुनना कहाँ हो रहा है ? क्या सद्गुरु कूड़ादान है? किन्तु यह मन के लिए सुविधाजनक है कि वह किसी पर निर्भर रहे, परावलम्बी रहे क्योंकि निर्भरता में समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता और इसीलिए मन अधिकाधिक निर्भर होना चाहता है। निर्भरता में प्रयोजन रहित साहसपूर्ण परीक्षण की आवश्यकता नहीं होती । इसलिए निर्भरता चित्त के लिए सुगम होती है । किन्तु यह स्वतन्त्रता को समाप्त करती है और चित्त की अव्यवस्था को और अराजक बनाती है ।

स्वतन्त्रता तभी घटित होती है, जब बिना दर्शक के देखना होता है, बिना श्रोता के सुनना होता है अर्थात् जब स्वाध्याय होता है और जब ''मैं'' के षड्यन्त्रों के ऊपर, बिना ध्याता के ध्यान होता है ।

कई वर्ष पूर्व, गुरूजी जब अरूप जी के घर ठहरे थे तब स्नानागार में गिरने से उनका हाथ टूट गया था । इसलिए उनको वहाँ दो या तीन सप्ताह तक रुकना पड़ा था । उन दिनों अरूप जी के परिवार में कुछ समस्यायें थीं जिनका संयोगवश उसी समय समाधान हो गया था । शीघ्र ही उस गाँव में यह बात चारों ओर फैल गई कि अरूप के घर में एक सद्गुरू ठहरे हैं जिन्होंने अरूप के परिवार की समस्याओं को अपने शरीर पर लेकर उनलोगों को चिन्तामुक्त कर दिया है। उसके बाद गुरूजी से मिलने के लिए लोगों की भीड़ लग गई–सभी अपनी समस्याओं की सूची के साथ आये थे ताकि गुरुजी उनका समाधान कर दें । गुरूजी ने उनलोगों को समझाने का प्रयास किया कि उन्होंने कुछ नहीं किया है और जो कुछ भी हुआ है – वह संयोग मात्र है । किन्तु कोई सुनने को तैयार नहीं था । वे सोचते थे कि सद्गुरु बहुत महान और अत्यन्त विनम्र हैं और वे वस्तुतः कहना चाहते हैं कि ''नहीं, नहीं, मैं कुछ नहीं हूँ । सब कुछ ईश्वर की कृपा से हुआ है, आदि–आदि ।'' अन्ततः गुरुजी ने कहा–''ठीक है, तर्क के लिए यह मान भी लिया जाय कि मैंने अपना एक हाथ तोड़वाकर इस परिवार का दुःख–दर्द अपने शरीर के ऊपर ले लिया है तो क्या आपलोग यही चाहते हैं कि मुझे आप सबकी समस्याओं के निराकरण के लिए अपना दूसरा हाथ और दोनों पैर आदि शरीर के शेष अंग भी तोड़वा लेने चाहिए? यह सुनकर वातावरण में पूर्ण शान्ति छा गई । अपनी विश्वास–पद्धतियों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन न मिलने पर, लोग वहाँ से चले गए ।

सत्–गुरू–प्रक्रिया किसी भी प्रकार के विश्वास या अविश्वास को प्रोत्साहित नहीं करती । हर पल 'जो है' के प्रति विभाजनरहित दिव्य सजगता में होने का आनन्द ही गुरू–प्रक्रिया है ।

तुम्हारा भाई ।

।। जय क्रियावान भाई और बहन ।।